इकाई–10

निरुक्त के प्रमुख निर्वचन

इकाई की रूपरेखा–

10.0 उद्देश्य

वेद समस्त ज्ञान का भण्डार है। वेद का अध्ययन भारतीय वांङ्मय को भलीभांति जानने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैदिक शब्दावली का उचित अर्थ एवं व्याख्या का ज्ञान होना आवश्यक है। वैदिक शब्दों का निघण्टु में संग्रह किया गया है तथा निघण्टु में संकलित शब्दों का निर्वचन एवं अर्थ यास्क द्वारा निरूक्त में किया गया है। इस इकाई में विद्यार्थी वैदिक शब्दों का निर्वचन जान सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

निरुक्त निर्वचन प्रधान शास्त्र है, जिसमें आचार्य यास्क ने बहुत से वैदिक मंत्रों की व्याख्या एक नयी शैली में की है। आचार्य सायण के अनुसार अर्थ ज्ञान के लिए स्वतन्त्र रुप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है, वहीं 'निरुक्त' है।

"अर्थावबोधे निरपेक्षया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरूक्तम्" निरुक्त में निघण्टु के गिनाये गये वैदिक शब्दों की व्याख्या की गई है। निघण्टु में केवल शब्दों का संकलन है, जो प्रायः अमरकोश की शैली में है। महाभारत में निघण्टु के प्रणेता प्रजापति कश्यप है परन्तु कुछ निरुक्तकार यास्क को ही निघण्टु का भो कर्त्ता मानते हैं। स्वामी दयानन्द आदि चिन्तक आचार्य यास्क को ही निरुक्त व निघण्टु का रचयिता मानते हैं। यास्क के पूर्व जितने भो निरुक्तकार हुए हैं, वे निघण्टु ग्रन्थों के भो रचयिता थे। इसके विपरीत कुछ विचारकों का मानना है कि निघण्टु अलग–अलग विद्वानों की रचना है। आचार्य बलदेव उपाध्याय निघण्टु का रचयिता देवराज यज्वा को स्वीकार करते हैं।

निरुक्त का प्रथम अध्याय निरुक्त की भूमिका या विषय प्रवेश है। वैदिक पदों की निरुक्ति वस्तुतः द्वितीय अध्याय से प्रारम्भ होती है। निघण्टु क्रमशः नैघण्टुक, नैगम एवं दैवत काण्ड के कुछ पदों का निर्वचन करते हैं। निरुक्त के द्वितीय व तृतीय अध्यायों में नैघण्टुक काण्डगत पदों का निर्वचन किया गया है। चौथे से छठें अध्याय में नैगमकाण्ड गत शब्दों का विचार किया गया है। सातवें से बारहवें अध्यायों में दैवतकाण्ड के शब्दों पर प्रकाश डाला गया है।

यास्क की व्याख्या पद्वति के अनेक सिद्धान्त आज स्वीकार्य न हो तथा उनकी निर्वचन तथा व्याख्या पद्धति चाहे आज के आलोचकों को दोष दिखाई दे परन्तु नैरुक्तों की व्याख्या पद्धति को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि उनके मस्तिष्क में भाषा–विज्ञान का बीज वपन ही नहीं हुआ था, परन्तु भाषा विज्ञान के अनेक मौलिक सिद्धान्तों को उन्होंने उद्घोषित और प्रकाशित भो किया था। उन्होंने ठीक ही कहा कि शब्दों के अर्थ पर विशेष ध्यान देना चाहिय, व्याकरण के काल्पनिक संस्कारों की बहुत परवाह नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार निरुक्त के आधार पर विलुप्त अनेक वैदिक शब्दों से साम्य के आधार पर शब्दों का स्वरुप निर्धारण किया जा सकता है। आचार्य यास्क नैरुक्त परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य है।

यास्क के मतानुसार व्याकरण की परिपूर्णता निरुक्त में आकर होती है। वेद व्याख्या में यास्क की महत्त्वपूर्ण देन है। निरुक्त के आधार पर वेद व्याख्या विषयक अनेकानेक सम्प्रदायों व आचार्यों तथा उनके वैविध्यपूर्ण मतों का ज्ञान होता है। इस प्रकार वेदार्थ की पूर्णता तथा विविध शब्दों के स्वरूप, विषय परिज्ञान तथा देवताओं के स्वरूप का परिचय करवाने में निरुक्त का महत्वपूर्ण स्थान है।

10.2 निरुक्त का उद्देश्य

1. **निरुक्त का उद्देश्य वैदिक व प्रसंगवश लौकिक शब्दों की व्युत्पत्ति** व निर्वचन प्रस्तुत करना है। निरुक्त में यास्क ने निर्वचन की अनिवार्यता पर बल देते हुए अनेक शब्दों का निर्वचन किया है।

2. **शब्दों के अर्थ का बोध कराना निरुक्त का उद्देश्य है।** समाम्नायः समाम्नातः सः व्याख्यतव्यः। निघण्टु में गिनाये गये शब्दों की व्याख्या निरुक्त में की गई है अर्थात् निरुक्त भाष्य है। दुर्गाचार्य निरुक्त को भाष्य कहते हैं। विन्टरनित्ज ने भो यास्क को प्रथम भाष्यकार माना है अतः शब्दों का अर्थ बोधिक कराना निरुक्तकार का प्रथम उद्देश्य है।

3. **वैदिक मंत्रों के अर्थ का ज्ञान कराना**– 'इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते।' निरुक्त शास्त्र के बिना मंत्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता। निरुक्त शब्दों के अर्थ का निर्णय करता है। यास्क वेद मंत्रों के उदाहरण देकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं अतः मंत्रों के अर्थ का ज्ञान भो निरुक्त द्वारा होता है। यास्क ने प्रायः 800 मंत्रों की व्याख्या की है। इस के विषय में स्वंय यास्क ने कहा है कि– अथापि इदं अन्तरेण मन्त्रेषु। 'अर्थप्रत्ययो न विद्यते' अर्थात् इस निरुक्त के बिना मंत्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। जब तक मंत्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता तब तक उसमें प्रयुक्त शब्दों के स्वर व संस्कार का निर्धारण करना कठिन है क्योंकि एक ही शब्द एक प्रसंग में दूसरे प्रकार के स्वर तथा संस्कार को अपना सकता है तथा उससे भिन्न प्रसंग में दूसरे प्रकार के स्वर तथा संस्कार से युक्त पाया जाता है। इस रूप में मंत्रों के अर्थ के ज्ञान में सहायक होने के कारण निरुक्त को वेद विद्या अथवा वैदिक ज्ञान का आधार कहा जाता है।

4. **व्याकरण का ज्ञान कराना** –

   अर्थमप्रतियतो नात्यन्त स्वरसंरकारोद्देशः।
   तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।।

निरुक्त व्याकरण की परिपूर्णता है। व्याकरण केवल कुछ यौगिक शब्दों के प्रकृति प्रत्यय का निदर्शन करता है जबकि निरुक्त प्रकृति प्रत्यय का निर्धारण कर उसके निर्वचन की शैली भो प्रस्तुत करता है तथा शब्दों के विविध निर्वचन भो प्रस्तुत करता है। निरुक्त शब्द के अंतरंग पक्ष का अनुसंधान करते हुए अर्थ से संगति बैठाने का प्रयत्न करता है वेदार्थ में सहायक होने के कारण ही निरुक्त को वेदों का अंग अर्थात् वेदों तक पहुँचने का प्रमुख सोपान कहा जाता है।

5. **पद विभाग करना** – निरुक्त का प्रमुख प्रयोजन है पद विभाग। स्वयं यास्क के शब्दों में "अथापीदमन्तरेण पद विभागो न विद्यते" अर्थात इस निरुक्त शास्त्र के बिना पद–विभाग नहीं हो सकता। पद विभाग के बिना मंत्रों का परिज्ञान असम्भव है। इसी की पुष्टि के लिए यास्क ने उदाहरण दिया है–

"दूतो निर्ऋत्य इदं आजगामः।"

अर्थात् यह कपोत दूत बन कर निर्ऋति के पास से हमारे पास आया है। यहाँ निर्ऋति शब्द पञ्चमी अथवा षष्ठी विभक्ति अर्थ में आया है। यहाँ पर आकारान्त पद विभाग किया गया है। जबकि "परो निर्ऋत्य आचस्व।" अर्थात् दूर होकर निर्ऋति के लिए हमारा संदेश हो। इस मन्त्रार्थ में चतुर्थी विभक्त्यर्थ होने से अकारान्त पद–विभाग किया गया है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि दोनों मंत्रों में समान रुप से 'निर्ऋत्य' पद आया परन्तु निरुक्त शास्त्र का ज्ञाता तो इसमें पदच्छेद या पद–विभाग करके उपयुक्त अर्थ को जान लेता है। जबकि निरुक्त का अनध्यायी व्यक्ति मंत्रों का पद–विभाग करने में असमर्थ रहता है। अतः पद विभाग के लिए निरुक्त का ज्ञान आवश्यक है।

6. **देवता का ज्ञान कराना** – 'अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम्'। निरुक्त के अध्ययन का एक प्रयोजन यह भो है कि याज्ञ कर्म में देवता के नाम से बहुत से विधि निर्देश किये हुए हैं, वह सब निरुक्त के अध्ययन से ही जाने जा सकते हैं। यज्ञ में अनेक विधान है कि अमुक स्थान पर प्रजापत्य आहुति दी जाये, इसके सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निरुक्त का अध्ययन कर देवताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अतः यज्ञ यागादि का सुचारु रुप से संचालन हो सके इसके लिए निरुक्त के अध्ययन की आवश्यकता है।

7. **प्रशंसा प्राप्त करना** – 'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञाननिन्दा च।' निरुक्त के द्वारा वेदार्थ का ज्ञान होता है तथा ज्ञान की सर्वत्र प्रशंसा व अज्ञान की निन्दा होती है। अतः प्रशंसा प्राप्ति के लिए हमें ज्ञान की उपलब्धि के लिए निरुक्त का अध्ययन करना चाहिये। यास्क का सभो के लिए यही परामर्श है–

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ उत्सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।"

10.3 यास्क की निर्वचन पद्धति

द्वितीय अध्याय में यास्क ने शब्दों के निर्वचन की पद्धति का उल्लेख किया है। निर्वचन का अर्थ है–व्युत्पत्ति द्वारा अर्थ बताना। निरुक्त का उद्देश्य वैदिक शब्दों की व्याख्या करना तथा अर्थ का ज्ञान कराना है अतः निरुक्त मे यास्क ने शब्दों के निर्वचन पर बल दिया है तथा उनके कुछ सामान्य व विशेष सिद्धान्तों का वर्णन किया है –

1. तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्

जब किसी शब्द में वर्तमान धातु का वही अर्थ हो, जो उस शब्द का है, स्वर व बनावट के विषय में कोई आपत्ति नही हो और व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया के द्वारा

ही बनावट सिद्ध की जा सके, तब ऐसे शब्दों का निर्वचन सामान्य रीति से करें। जैसे– उपच् धातु से ण्वुल् (अक्) प्रत्यय के रूप में व्याकरण की प्रक्रिया तथा पच् को पाच् के रूप में परिवर्तित कर पाचक शब्द की व्युत्पत्ति की गई है। व्युत्पत्ति की यह पद्धति व्याकरण से मेल खाती है तथा वैज्ञानिक पद्धति है।

2. अथानन्वितेऽर्थे, अप्रादेशिके विकारे, अर्थनित्यः परीक्षेत् केनचित् वृत्तिसामान्येन।

जब शब्द में दिखलाई पड़ने वाली धातु का अर्थ शब्द से भिन्न हो, या धातु से उस शब्द की सिद्धि करने में व्याकरण बाधक हो तब उस शब्द के विभिन्न रुपों की तुलना धातु के विभिन्न रूपों से करनी चाहिये तथा कहीं पर भो समानता मिलने पर निर्वचन कर देना चाहिये। यथा 'राजा' शब्द की व्युत्पत्ति राज् धातु से की जाती है क्योंकि राजा ही राज्य में शोभते है (राजन्ते)।

3. अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसामान्यात् निर्ब्रयात्

जब शब्द के विभिन्न रूपों की समानता धातु के विभिन्न रूपों से न दिखे तो धातु और शब्द में एक आधस्वर या व्यञजन की समानता को आधार मानकर निर्वचन करना चाहिये। यथा– रकार तथा पकार की समानता होने से ही 'रुच्' धातु से रूप की व्युत्पत्ति है।

यास्क के दोनों सिद्धान्त भाषा विज्ञान के ध्वनि–सिद्धान्त के विरुद्ध है। वैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि कुछ निश्चित ध्वनियाँ ही किसी निश्चित रूप में किसी निश्चित समय पर बदलती है। 'न संस्कारम् आद्रियेत्' एक बहुत बड़ी भ्ल है। परन्तु निर्वचन में असमर्थता दिखाने पर सभो शब्द धातुज है यह सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। यास्क ने शब्दों के निर्वचन के कुछ विशेष सिद्धान्त भो बताये है–

1. धातु के कुछ रूपों में आदि अक्षर ही बचता है। "प्रत्तम् अदत्तम् इति धात्वादौ एव शिष्यते।" जैसे प्र + ✓दा + क्त = प्रत्त इसमें ✓दा का केवल 'द्' ही 'त्' के रूप में अवशिष्ट है।
2. 'अथापि अस्ते निवृत्ति स्थानेषु आदि लोपो भवति–स्तः सन्तीति' कहीं–कहीं आदि स्वर का लोप हो जाता है, जैसे ✓अस् का गुणवृद्धि से रहित स्थानों में स्तः सन्ति। भाषा–विज्ञान भो आदि स्वर लोप को स्वीकार करता है। उदाहरण–अपिनद्ध > पिनद्ध, अवगाह्य > वगाह्य।
3. 'अथापि अन्तः लोपो भवति – गत्वा गतमिति।'

   कहीं–कहीं वस्तु के अन्त्य अक्षर का लोप हो जाता है जैसे ✓गम् – गतः, गत्वा आदि।
4. अथापि उपधालोपो भवति–जग्मतुः, जग्मुः इति।
   कहों–कहीं मध्यम स्वर (उपधा) का भो लोप हो जाता है।

   जैसे– ✓गम् > जग्मतुः (में 'ग के अकार' का लोप)
5. अथापि उपधाविकारो भव कहीं

   कहीं उपधा में विकार हो जाता है। ह्रस्व स्वर के बाद अनुनासिक वर्ण आने से दीर्घ स्वर हो जाता है जैसे राजन् = राजा, दण्डिन–दण्डी।
6. 'अथापि वर्णलोपो भवति– तत्त्वा, यामि इति।' कहीं दूसरे व्यञजन के पूर्व व्यञजन का लोप हो जाता है। तत्त्वा–तत्वा।
7. 'अथापि द्विवर्णलोपः–तृचः इति।' जैसे– ऋच > तृच् में र् व य् का लोप।
8. 'अथापि आदि विपयर्थयो भवति' कहीं–कहीं आदि वर्ण का विपर्यय हो जाता है जैसे– ✓द्युत्–ज्योति, ✓हन्–घनः, ✓भिद्–बिन्दुः इत्यादि।

9. अथापि आद्यन्तविपर्ययोभवति–कहीं–कहीं दोनों ओर के व्यञजन परस्पर स्थान बदल लेते है।

जैसे श्चुत् झ स्तुच् झ स्तुक् झ स्तोकः। इसी प्रकार सिंह शब्द की व्युत्पत्ति ✓हिंस से हुई है।

10. अथापि अन्तव्यापत्तिः भवति। अन्तिम व्यञजन में विकार हो जाता है (हकार का ध् होना) ✓वह् > वधूः, मह् > मधु।

11. 'अन्तःस्थ वर्ण' रहने से सम्प्रसारण विकार भो हो सकता है। जैसे– ✓अव् > ऊति, म्रद्–मृदु।

उपर्युक्त सभो विकार निर्वचन में सहायक होते है परन्तु ये सभो विकार अनियमित है, किस स्थान पर होंगे, यह नियम बनाना कठिन है।

दुर्गाचार्य ने इन नियमों के आधार पर ही निरुक्त का लक्षण किया है–

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण विकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञचविधं निरुक्तम्।।

किसी भो शब्द का निर्वचन करने के लिए ध्वनि विकार के ये सिद्धान्त भाषा–विज्ञान में भो मान्य है–

1. वर्णागम, 2. वर्णविपर्यय, 3. वर्णविकार, 4. वर्णनाश और 5. अर्थ के अनुसार धातु के रुप की कल्पना। डॉ. स्कोल्ड (The Nirukta) कहते है कि "This observations are correct but his conclusions are wrong because too general" अर्थात् यास्क के उदाहरण या अनुभव तो ठीक है किंतु उनके निष्कर्ष गलत है क्योंकि वे अतिव्यापक है। निर्वचन करते समय हमे सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिये क्योंकि ध्वनियाँ अनियमित रुप से विङ्कृत होती है, हम इन्हें व्यापक सिद्धान्त का रुप नहीं दे सकते। यास्क की अपेक्षा पाणिनि के सिद्धान्तों में अधिक वैज्ञानिकता है परन्तु यदि हम यास्क के अपने निर्वचन सिद्धान्तों की पार्श्वभ्मि में उनकी समीक्षा करें तो यास्क में कहीं भो स्खलन नहीं मिलेगा।

10.4 निरुक्त के प्रमुख निर्वचन

10.4.1. निघण्टु –

वैदिक शब्द कोष को निघण्टु कहते हैं।

यास्क ने 'निघण्टु' शब्द के तीन निर्वचन किये है।

(i) ''निगमा इमे भवन्ति'' नि+गम्+अच् अर्थात् जो निश्चित रुप से अर्थ के बोधक होते है। यास्क के यह प्रथम व्युत्पत्ति निरुक्त के प्राचीन आचार्य औपमन्यव के मत के अनुसार दी है।

छान्दोभ्य समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः। इससे अभिप्राय है वैदिक मंत्रों से शब्दों को एकत्रित कर उनके अर्थ दिये गये और यास्क के समान औपमन्यव ने भो निरुक्त का प्रणयन किया था। नि ✓गम् > निगमयितृ > मिगन्तु > निघण्टु।

(ii) निघण्टु शब्द की द्वितीय व्युत्पत्ति 'आ हननाद् एव स्युः समाहता भवन्ति' के अनुसार सम् तथा आ उपसर्गों के साथ 'हन्' धातु से की गई है। मर्यादापूर्वक विशिष्ट विभाजन और दृष्टिकोण के साथ शब्दों का एक क्रम में संग्रह किया है। सम् आ ✓हन् > समाहन्तृ > समाहन्तु > निघण्टु।

(iii) निघण्टु शब्द की तीसरी व्युत्पत्ति 'यद्वा समाहृता भवन्ति' की गई है। अर्थात् वेदों से शब्दों को चुन–चुन कर एकत्र करना। 'सम् तथा 'आ' के स्थान पर नि 'हृ' का गुण होकर हर्तृ' र का न 'ह' का 'घ' और 'न' का 'ट' होकर निघण्टु शब्द व्युत्पन्न हुआ। सम् आ ✓हृ > समाहर्त्तु > निघण्टु। इस प्रकार निघण्टु शब्द के तीन अर्थ हमारे सामने आते हैं–

1. निघण्टु के शब्द मन्त्रों के अर्थ के बोधक है।
2. वे समूह रूप में एक मर्यादा के साथ संग्रहीत है।
3. वे शब्द वेद से चुन–चुन कर एकत्र किये गये हैं।

10.4.2. आचार्यः–

यास्क ने आचार्य शब्द भो तीन व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की है। यास्क इस बात की परवाह नहीं करते कि व्याकरण की प्रक्रिया उनकी व्युत्पत्तियों का कहाँ तक साथ देती है परन्तु शब्द से प्रकट होने वाले अर्थ को दृष्टि में रखकर व्युत्पत्तियाँ करते है–

(i) आचार्यः आचारं ग्राह्यति अर्थात्। आचार्य वह है जो विद्यार्थी को सदाचार की शिक्षा देता है। शिक्षा ही नहीं देता वरन् उसे सदाचार भो धारण करवाता है। इसमें आ उपसर्ग चर् धातु तथा ण्यत् जैसा कोई प्रत्यय रहा होगा।

(ii) आचार्य शब्द की द्वितीय व्युत्पत्ति 'आचिनोति अर्थान्। अर्थात् आचार्य शिष्टा की बुद्धि में विभिन्न अर्थों–शास्त्रों के रहस्यों–का सम्यक् चयन करता है। विद्यार्थी को शास्त्रों में निष्णात बनाता है। आ उपसर्ग पूर्वक चि धातु से इस शब्द का निर्माण हुआ है।

(iii) आचार्य शब्द की तृतीय व्युत्पत्ति 'आचिनोति बुद्धिम् इति वा' अर्थात् आचार्य विद्यार्थी में उत्तमोत्तम बुद्धि ज्ञान–विज्ञान तथा अनुभव का चयन करता है। शिष्य को चुन–चुन कर अपना ज्ञान देता हे। यह भो उपसर्ग पूर्वक 'चि' धातु से बना है। यह तीनों व्युत्पत्तियाँ आचार्य शब्द की एक परिष्कृत व पूर्ण परिभाषा प्रस्तुत करती है।

10.4.3. कुल्माषाः –

यास्क ने कुल्माष शब्द की व्युत्पत्ति 'कुलेषु सीदन्ति' इति कुल्माष की है। ऐसा धान जो धनी कुलों में पड़ा–पड़ा दुःखी होता था अर्थात् खाया नहीं जाता था।

शबर स्वामी ने कुल्माष शब्द की व्युत्पत्ति 'कुत्सितान् माषान्' की है तथा कोषकार भरत ने 'कुल्माष' का अर्थ खिचड़ी किया है। आध पके हुए धान, चने इत्यादि के अर्थ में भो कुल्माष का प्रयोग किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक कहानी के आधार पर कुल्माष निष्ठुष्ट धान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

10.4.4. शाखाः –

''शाखाः खशयाः'' अर्थात् शाखा को शाखा इसलिए कहते है क्योंकि वह आकाश में शयन करती है। रवे आकाश व शया अर्थात् शयन करने वाली इसमें वर्ण विपर्यय करके शाखा कहते है। 'शाखाः खशयाः शक्नोतेर्वा' शाखायें फल–फूल तथा पक्षियों को धारण करने में समर्थ है इसलिए भो उन्हें शाखा कहते है।

'वया' शब्द शाखा का ही एक अर्थ है। वया शब्द 'वी' धातु से निष्पन्ना है इसका अर्थ है गति। शाखाओं को 'वया' इसलिए कहते हैं क्योंकि उनके बीच वायु के लिए आने जाने का मार्ग होता है अर्थात् वह वातायन (खिड़की) की तरह होती है।

10.4.5. वर –

वरो वरयितव्यो भवति। वर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क कहते है कि वर वरणीय, स्वीकरणीय अथवा चुनने योग्य होता है। स्कन्द ने वर का अर्थ प्रार्थित या अभिलषित वस्तु माना है।

10.4.6. जरित्रे – 'जरिता' शब्द के चतुर्थी विभक्ति एक वचन में 'जरित्रे' बना है। जरिता शब्द यास्क की दृष्टि में 'गरिता' शब्द से वर्णविपर्यय होकर बना है। 'जरिता' शब्द की व्युत्पत्ति 'जृ' धातु से मानने पर लौकिक संस्कृत में 'जृ' धातु वृद्धावस्था के लिए प्रयुक्त हुई है परन्तु 'गृ' धातु से व्युत्पत्ति मानने पर 'स्तुति करने वाला' अर्थ होता है। ऋग्वेद व अथर्ववेद में अनेकों स्थान पर 'जरितृ' 'वृद्धावस्थां' व 'स्तोता' दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे एतद् वचो जरितर् मऽपि मृष्ठाः। (ऋ. 3/33/8).

10.4.7. मघोनी –

मघ् धातु से वतुप् प्रत्यय करने पर 'मधवती' शब्द बनता है। वैदिक संस्कृत में

मधवती के स्थान पर 'मधोनी' प्रयोग मिलता है।
'मघम् इत धन नामधेयम् महतेर् दानकर्मणः'।।

इस प्रकार मघ् धातु धन अर्थ के साथ–साथ दान अर्थ वाली मह् धातु से भो मघ शब्द बना है। पाणिनी धातुपाठ में मह् धातु बुद्धि अर्थ में मिलती है। ऋग्वेद में दानार्थक मह् धातु का प्रयोग अन्यत्र भो मिलता है जैसे –

स्तोतृभ्यो महते मघम् (ऋ. 1/11/3).

10.4.8. दक्षिणा –

समृद्ध' अर्थ वाली दक्ष् धातु से 'दक्षिणा' शब्द बना है। 'दक्षते समर्धयति कर्मणः' इति।

1. दक्षिणा शब्द दक्ष् धातु से निष्पन्ना मानने का कारण है कि दक्षिणा निर्धन का भो समृद्ध बना देती है। (व्यृद्धं समर्धयति इति न्यूनतां (यज्ञस्य) प्रपूर्वयज्ञसमृद्धिं विधत्ते इति भावः। अपि वा प्रदक्षिणा गमनात् प्रदक्षिणावृत्ति कारणात् वा अर्थात, गमन करने के अर्थ में भो दक्षिणा शब्द का प्रयोग हुआ है।
2. दिशमभिप्रेत्य प्रदक्षिणेति शब्दः। दक्षिण दिशा से संबंध होने के कारण दक्षिणा कहा जाता है।
3. 'दक्षिणादिक्–हस्त प्रकृति = दक्षिणहस्तकारणात् प्रजापतेरितिभाव' दक्षिणा में दी जाने वाली गाये यज्ञवेदी के दक्षिण दिशा की ओर लाकर फिर ऋत्विज को दान में दी जाती थी। दक्षिण दिशा की ओर जाने के कारण 'दक्षिणा' कहा जाने लगा। दानार्थक 'दाशृ' धातु से भो दक्षिण हस्तः शब्द निष्पन्ना हुआ है।

10.4.9. हस्तः –

(i) यास्क ने 'हस्तः' शब्द के साथ दक्षिण शब्द का प्रयोग किया है तथा 'दक्षतेरुत्साहकर्मणः' अर्थात् उत्साह अर्थवाली 'दाशृ' धातु से 'दक्षिण हस्तं' शब्द का निर्माण किया क्योंकि दान देने या उत्साहपूर्ण कार्य दक्षिण हाथ से ही किया जाता है।

(ii) हस्त हन्ते = गत्यर्थक–हन् धातोः प्राशुर्हनने = आशु गमनं, मरणं विद्यमानस्य हन् धातोः हस्त शब्दो निष्पन्ना इति भाव। 'हन–धातु' गति तथा हिंसा दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है अतः 'हस्त' इसलिए कहा जाता है क्योंकि व मारने तथा गति करने में बहुत तेजी से चलता है।

10.4.10. सुवीराः –

यास्क ने 'सुवोराः' का अर्थ वीरवन्तः किया है जिसका अभिप्राय है सन्तान या वीरों से युक्त। इसके पश्चात् पुनः 'कल्याणवीराः' अर्थात् कल्याणकारी पुत्रों या वीरों से युक्त अर्थ किया है।

तत्पश्चात् यास्क ने वीर शब्द की तीन व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं–

(i) वीरयति अमित्रान्। अर्थात् वीर शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'ईर्' धातु से बना है क्योंकि वीर शत्रु को अनेक रूपों में कंपा देता है। छिन्न–भिन्न कर देता है।

(ii) वेतेर वा स्याद् गतिमर्कणः। अर्थात् गति अर्थ वाली 'वी' धातु से 'र' प्रत्यय करके बनेगा। वीर युद्ध क्षेत्र में विविध रूपों में गति–गमन करता है।

(iii) वीरयेतर् वा। अर्थात् वीर शब्द वीर (विक्रान्तौ) धातु से निष्पन्ना होगा क्योंकि वीर अनेक पराक्रम युक्त कर्म करता है।

10.4.11. सीमा –

आचार्य यास्क के मत में 'सीम्' निपात परिग्रहार्थीय या पदपूरणार्थक है। सीम् के साथ अनर्थक अ व स्वार्थ में तसिल् प्रत्यय करके सीमातः मर्यादातः अर्थ किया है जिसका अभिप्राय है– सीमा या मर्यादा। क्योंकि सीमा दो देशों को अलग करती है। यास्क के अनुसार– सीम्नः सीमतः सीमातः मर्यादातः। सीमा, मर्यादा, विषीव्यति, देशौ इति। सीमा शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'सीव्' धातु से बना है। 'सीव्' का अर्थ होता ह सीमा तथा वि उपसर्ग के साथ इसका अर्थ हो जायेगा– अलग करना अतः जो दो देशों को अलग करती हो, वह सीमा है।

10.4.12 ब्रह्मा –

(i) बह्मैको जाते–जाते विद्यां वदति।
ब्रह्मा सर्वविद्यः। सर्वं वेदितुम् अर्हति।।

ब्रह्मा अवसर–अवसर पर अपने ज्ञान को प्रकट करता है। ब्रह्मा सब विद्याओं का ज्ञाता होता है तथा सब कुछ ज्ञान कराता है।

(ii) ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। ब्रह्मा परिवृढं सर्वतः। ब्रह्मा शब्द 'बृह्' धातु से निष्पन्ना है जिसका अर्थ होता है ज्ञान के द्वारा बहुत बड़ा हुआ। ब्रह्मा परमब्रह्म तथा वेद से भो बड़ा हुआ होता है।

10.4.13 अध्वर्युः –

यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः अध्वर्युः। अध्वर्युर् अध्वरयुः।

अर्थातः यज्ञ करते समय जिन–जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है उन सबका प्रबन्ध 'अध्वर्यु' करता है। अध्वर्यु शब्द की चार उत्पत्तियां दी गई है–

1. अध्वरं युनक्ति – अध्वर्यु यज्ञ का सम्पादन करता है। अध्वर शब्द युज्–धातु के योग से अध्वर्यु निष्पन्ना है।
2. अध्वरस्य नेता – यज्ञ का नेता। यज्ञ के विविध क्रिया–कलापों का सम्पादन करने वाला।
3. अध्वरं कामयते – यज्ञ के सम्पादन की इच्छा रखता है। इच्छा अर्थ मं क्यच् प्रत्यय करके अध्वर्यु शब्द बना।
4. अपिवा ऽधीयाने युर् उपबन्धः अर्थात, जो अध्वर से सम्बन्धित यजुर्वेद आदि का अध्ययन करता है उसमें अध्ययन करने के अर्थ तर्(ि 'यु' प्रत्यय का प्रयोग किया है।

'अध्वर' यज्ञ का पर्याय है। यज्ञ को अध्वर इसीलिए कहा गया है क्योंकि यज्ञ में हिंसा का अभाव या प्रतिषेध होता है। हिंसा अर्थ वाली 'ध्वृ' धातु से अच् प्रत्यय करके तथा

नञा्–समास करके अध्वर शब्द निष्पन्ना हुआ है जिसका अर्थ है–अविद्यमानो ध्वरो यस्मिन् सोऽध्वरः।

10.4.14 अक्षि –

यास्क अक्षि शब्द का निर्वचन ''अक्षि चष्टेः''।

अर्थात् अक्षि शब्द चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि – व्यक्त करने वाली धातु से बना है।

आचार्य आग्रामण अक्षि शब्द की व्युत्पत्ति 'अञज्' (व्यक्तार्थक) धातु से मानते हैं क्योंकि तस्मादेते व्यक्तरे भवतः इति ह विज्ञायते। आँखे चेहरे पर अधिक स्पष्ट या व्यक्तर होती है।

10.4.15 कर्णः –

निरुक्त में कर्णः की तीन व्युत्पत्तियाँ दी गई।

(i) कर्णः कृतन्तेः। निकृत्तद्वारो भवति। 'कर्ण' शब्द 'कृन्त' (कृति छेदने) धातु से निष्पन्ना हुआ ह क्योंकि कान कटे हुए द्वार वाला होता है।

(ii) ऋच्छतेर् इत्याग्रायणः। 'कर्ण' शब्द 'ऋच्छ्' धातु से बनता है, ऐसा आग्रायण मानते हैं।

(iii) ऋच्छन्तीव, खे उदगन्ताम् इति ह विज्ञायते। ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है, इसका अभिप्राय है मानों दोनों कानों के दोनों आकाश बिल ऊपर की ओर चले गये हैं।

10.4.16 ह्रदाः –

'ह्रदाः' शब्द से तात्पर्य तालाब या छोटी नदी से है। यास्क 'ह्रदा' शब्द की व्युत्पत्ति 'ह्राद्' धातु से की है जिसका अर्थ है 'शब्द करना'। ह्रदो ह्रादतेः शब्द कर्मणः क्योंकि इसमें स्नानादि के कारण या जल–जन्तुओं के कारण आवाज होती रहती है।

द्वितीय व्युत्पत्ति 'ह्राद्' धातु से 'ह्रादनेर्वा स्यात्छीतीभावकर्मणः' अर्थ किया है। पाणिनी भो 'ह्राद्' धातु का अर्थ अव्यक्त शब्द करना तथा सुखी होना दोनों ही मानते हैं। 'शीतस्पर्शवत्य आपः' शीतलण्य एवं स्पर्शत्व जल का भाव है। अतः 'ह्रदाः' शब्द प्रसन्नाता व शीतलीकरण दोनो के अर्थ में आता है।

10.4.17 नरक –

नरक शब्द नि+अरक से बना है। जिसका अभिप्राय है नीचे की ओर जाना। ''नरके न्यरकं नीचैर् गमनम्''। इसमें रमणीय या आनन्ददायक स्थान थोड़ा भो नहीं है 'नास्मिन् रमणं स्थानम् अल्पम्–अप्यस्तीति स्म।'

10.4.18 गिरिष्ठाः –

1. गिरि + ✓स्था + क्विप् से बने गिरिष्ठाः शब्द का अर्थ है गिरि अर्थात् पर्वत पर रहने वाला। गिरिः पर्वतः = गिरि पर्वत का नाम है क्योंकि समुद्गीर्णोभवति अर्थात् वह सम विषम छोटे बड़े पत्थरों से बना होता है तथा दूर से प्रतीत होता है। ऊपर उभरा हुआ होता है। इस प्रकार गिरि का निर्वचन होगा। गृ झ गिर + इ = गिरि।

10.4.19 पर्वतः

1. **पर्ववान् पर्वतः** – पर्व युक्त या पोर वाला पर्वत कहा जाता है। पर्वतमालाएँ दूर से ग्रन्थियुक्त या पोर पर्वयुक्त दिखायी देती हैं। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा = पर्वत शब्द पूरणार्थक 'पृ' धातु से या प्रीत्यर्थक 'प्री' धातु से बना है। डॉ. देवेन्द्र उपाध्याय के अनुसार यदि 'पृ' धातु से पर्वत शब्द की निष्पत्ति मानी जायेगी तो अर्थ होगा कि अपने आश्रितों को फल–फूल तथा अपने स्वरूप को शिला चट्टानों से पूर्ण करता है।

   प्री धातु से इसकी निष्पत्ति मानने पर पर्वत का अपने आश्रितों के लिए तृप्तिदायक सिद्ध होना अर्थ होगा।

इसी प्रकार पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्वों पर देवताओं को प्रसन्ना करने का विधान है अतः पर्व को पर्व करते हैं।

10.4.20 पुरूषः –

यास्क ने पुरूष शब्द के तीन निर्वचन प्रस्तुत किए हैं–

1. ''पुरि सीदति'' पुरि + ✓सद् + अ (घत्र) अर्थात् जो 'पुर' में निवास करता है, वह पुरूष है।

2. ''पुरि शेते'' इसमें पुरि + शी + अ (अच्) > पुरिशय > पुरूषः जो नगर में सोता है।

3. पुरूष शब्द भरना व पूर्ण करना अर्थ वाली 'पृ' धातु से निष्पन्ना है, जिससे अभिप्राय अन्तरात्मा से है। उस पुरूष ;अन्तरात्माद्ध ने समस्त संसार को पूर्ण (व्याप्त) कर दिया है। 'पूरयतिति पुरुषः' इस अर्थ में ✓पृ + णिच् पूरि + स (प्रत्यय) > पुरूष बना।

10.4.21 गौः –

गौः इति पृथिव्याः नामधेयम्। गौः शब्द पृथिवी का पर्याय है। यत् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भ्तानि गच्छन्ति गातेर्वोकारो नामकरणः। पृथिवी को गो इसलिए कहा गया है क्योंकि यह दूर तक गई हुई है, इस पर पदार्थ गमन करते हैं। यह ✓गा धातु से ओ प्रत्यय के योग से सम्पन्ना हुआ है। लौकिक संस्कृत में 'गा' के रूप प्राप्त नहीं है। अतः गौ की व्युत्पत्ति गम् धातु से की जा सकती है।

1. गौ अन्य अर्थों का भो वाचक है। यथा– "अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव" गो शब्द पशुविशेष गाय का वाचक है।

2. अथाप्यस्यां तद्धितेन कृत्यस्नवन्निागमा भवन्ति। 'गो' पद से तद्धित्त प्रत्यय करके पूरे गो शब्द वाले वैदिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा– गो से उत्पन्ना हुए दूध आदि सभो पदार्थ भो 'गो' कहलाते हैं।

3. "अथापि चर्म च श्लेष्मा"। गो शब्द से चमडे तथा चर्बी का भो बोध होता है।

4. "अथापि स्नाव च श्लेष्मा च"। गो शब्द तांत व चर्बी का भो वाचक है।

5. "ज्यापि गौरूच्यते।" धनुष की डोरी को भो 'गो' शब्द से जाना जाता है।

6. "आदित्योऽपि गौरुच्यते।" सूर्य को भो 'गो' कहते हैं।

7. "सोऽपि गौरुच्यते।" सुषुम्ना नामक सूर्य की रश्मि को भो गो कहते हैं।

8. "सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते"। सूर्य की समस्त रश्मियों को 'गो' कहते हैं। इसका कारण प्रो. मैक्डोनल ने बताया कि सूर्य की प्रातः कालीन किरणों को निकलता देखकर प्राचीन आर्यों ने कल्पना की कि गायें अपने रात्रि निवास से निकल गोचरभ्मि की ओर जा रही हैं। गायों के समान सूर्य भो रात्रि में विश्राम कर सुबह निकलता है अतः प्राकृतिक समानता को देखकर 'गो' शब्द सूर्य के अर्थ में प्रचलित हो गया।

10.4.22 शृङ्ग –

शृङ्ग शब्द के अर्थ व ध्वनिसाम्य के आधार पर चार निर्वचन दिये गये हैं। जिसमें प्रथम दो धातुमूलक तथा अन्तिम दो शब्द समूह मूलक है।

1. शृङ्ग श्रयतेर्वा – सींग सिर का आश्रय लेकर उत्पन्ना होता है। श्रयति मूर्द्धानाम् इति शृङ्गम् अतः श्रि + ग > शृ > ग > शृङ्ग शब्द सिद्ध हुआ।

2. शृंग के द्वारा पशु अपने शत्रुओं की हिंसा करता है, उन्हें मार भगाता है। (शृणोति हिनस्ति शत्रून् अनेनेति शृङ्गम्) हिंसार्थक शृ + ग से शृङ्ग शब्द बना।

3. शृङ्ग अपने बचाव के लिए ऊपर की ओर उठे होते अतः शरण के 'शर' और उद्गतम् के 'ग' के संयोग से शृङ्ग शब्द निष्पन्ना हुआ।

4. शृङ्ग 'शिरसो निर्गतम्' शिर से निर्गत इस अर्थ में शिरस् और निर्गत के 'ग' के संयोग से इस शब्द की सिद्धि मानी जा सकती है। (शिरस् + ग > शिर + ग > शृ+ग > शृङ्ग)।

10.4.23 पादः –

'पाद' शब्द ✓पद् (चलनार्थक) धातु से निष्पन्ना होता है। पद्यतेऽनेनेति पादः – ✓पद् + घत्र्) यह अपनी प्रारम्भिक स्थिति में पशुओं के (सम्भवतः मनुष्यों के भो) पैर का वाचक था। बाद में 'तन्निाधानात् पदम्' पाद जिस को जिस स्थान से उठाकर जिस स्थान पर रखा जाने लगा उस स्थान को भो 'पद्' कहने लगे।

"पशु–पाद प्रकृति प्रभागपादः" – पशु के चार पाद होते हैं तथा प्रत्येक चौथे भाग को 'पाद' नाम से कहा जाने लगा।

"प्रभाग पाद सामान्यात् इतराणि पदानि" चतुर्थांश के लिए प्रयुक्त 'पाद' शब्द चार भागों की समानता के आधार पर श्लोक के एक भाग या चरण को पाद कहा जाने लगा।

10.4.24 हिरण्यम् –

हिरण्य शब्द के निघण्टु में 15 पर्याय दिये गये हैं। यास्क ने लोक में दृश्यमान् अर्थों के आधार पर हिरण्य के चार निर्वचन किए है।

(i) "ह्रियते आयम्यमानम् इति" सोना खींचा जाता हुआ। सुनारों के द्वारा चुरा लिया जाता है। ✓हृ + म्य > हिर् > म्य > हिर+न्य = हिरण्य बना।

(ii) सामान्य धन के रूप में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास ले जाया जाता है, उसका हरण किया जाता है। "ह्रियते जनाज्जनमिति वा" ✓हृ + जन > हिर् + जन > हिर् + वन > हिर् + यण > हिरण्य > निष्पन्ना है।

(iii) सोना संकट के समय मनुष्य का हित करता है। मन को रमाने वाला भो होता है। (हितरमणं भवतीति वा, हृदय–रमणं भवति इति वा) हि + रमण + य > हि + रण + य > हिरण्य।

(iv) "हर्थतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः।" सोना सबके द्वारा चाहा जाता है, उसको कामना की जाती है। अतः चाहना अर्थ वाली (हय् धातु + न प्रत्यय > हियं्. न > हियं्. ण > हिरण्य) रूप बना।

10.4.25 अन्तरिक्ष –

(i) निघण्टु में अन्तरिक्ष के 16 पर्यायवाची गिनाये हैं। द्युलोक व भ्लोक के मध्यवर्ती प्रदेश को अन्तरिक्ष कहते हैं क्योंकि यह 'अन्तराक्षान्तं भवति' द्यावाभ्मि के मध्य में (अन्तरा) अन्त तक फैला है। अन्तरा + क्षा झ अन्तरिक्ष शब्द का निर्माण है।

(ii) यह द्यावा भ्मि के मध्य में (अन्तरेमेइतीवा) निवास करता है।

(iii) शरीरेष्वन्तरक्षयम् इति वा – शरीरों के नष्ट हो जाने पर भो उनमें रहने वाला आकाश या शून्य नष्ट नहीं होता। इस अर्थ में अन्तर + अक्षय झ अन्तरिक्षं यह निर्वचन होगा।

10.4.26 समुद्र –

अन्तरिक्ष के पयार्यों में निघण्टु में समुद्र शब्द पढ़ा गया है। वेद समुद्र के अन्तरिक्ष अर्थ को व्यक्त करता है, उसी प्रकार पार्थिव समुद्र रूपी अर्थ को भो व्यक्त करता है।

यास्क ने समुद्र के पाँच निर्वचन प्रस्तुत किये हैं–

1. **समुद्रद्रवन्त्यस्मादापः** – जल इसमें ऊपर की ओर उठते या उछलते हैं अतः यह समुद्र कहलाता है। सम् + उद् + ✓द्रु + अ > समुद् + द्र > समुद्र यह निर्वचन किया गया है।

2. **समभिद्रन्त्येनमापः** – जल इसकी ओर तेजी से दौड़ते हैं। इसलिए इसे समुद्र कहते हैं। सम् + द्रु + अ > समुद्र इस प्रकार निर्वचन है।

3. **सम्मोदन्तेऽस्मिन्** – भ्तानि– जलचर प्राणी इसमें अच्छी तरह से मुदित (प्रसन्ना) रहते हैं। सम् + ✓मुद् + र ('रक्' प्रत्यय) > समुद्र बना।

4. **समुदको भवति** – यह अच्छे जल वाला है अतः इसे समुद्र कहते है। सम् + उदक > सम्+ उदर > समुद्र बना।

5. **समुन्नात्तीतिवा** – यह जल से लोगों को अच्छी तरह भिगो देता है अतः इसे समुद्र कहते हैं। सम् + ✓उन्द् (भिगोना) + रक् प्रत्यय > समुद्र रूप निष्पन्ना बना है।

यास्क ने आगे बताया है कि दोनों समुद्र एक नहीं है, इन दोनों में विभाग है। वेद में दोनों ही भिन्ना–भिन्ना अर्थों में प्रयुक्त हुए है।

10.4.27 पुत्रः –

पुत्र शब्द का निर्वचन यास्क ने तीन प्रकार से किया है–

1. "पुत्रः पुरु त्रायते" अर्थात् जो पूर्णतया रक्षा करता है, वह पुत्र है। पुरु + त्रै +> पुत्रत्र > पुत्र (रु का लोप)।
2. निपणाद् वा – जो पिता को पिण्ड दान करे, उसका पालन पोषण करे, उसे पुत्र कहते हैं। पालनार्थक 3पृ धातु से 'त्र' प्रत्यय करके पुत्र शब्द निष्पन्ना होता है।
3. ''पुन् नरकम् ततस्त्रायते इति वा" जो 'पुत्' नरक से पिता की रक्षा करता है। पुत् + ✓त्रै > पुत्र यह निरुक्ति बनी।

10.4.28 आदित्यः –

यास्क आदित्य शब्द के चार निर्वचन किये हैं।

1. वह रसों का आदान करता है, इसलिए आदित्य है। ''आदत्ते रसान्'' आ + ✓दा + य > आ + दा + त्य (त् का आगम) > आदित्य शब्द निष्पन्ना है।
2. ''आदत्ते भासं ज्योतिषाम्'' वह नक्षत्रों की कांति का आदान या हरण कर लेता है।
3. ''आदीप्तोभासेति वा'' – वह अपनी कान्ति से आभा से सर्वतः दीप्त रहता है। इसलिए वह आदित्य है।
4. अदितेः पुत्रः इति वा – अदिति का पुत्र है अतः आदित्य है। अदिति + य पाणिनि को यही निर्वचन मान्य है। ऋग्वेद में आदित्य का आदितेय नाम अल्प प्रयुक्त है। दूसरे देवताओं की स्तुतियाँ आदित्य नाम से की गयी है। यथा– स्वरादित्योभवति (आदित्य को स्वर कहते हैं) पृश्निरादित्यो भवति। आदित्य को पृश्नि भो कहते है। गौः आदित्यो भवति। आदित्य को गौ कहते हैं। नभ आदित्यो भवति। नभः आदित्यो भवति। विष्टप् आदित्यो भवति आदि अनेक प्रयोग मिलते हैं।

10.4.29 वृत्रः –

मेघ इति नैरूक्ताः मेघ ही 'वृत्र' है यह नैरूक्तों का मत है तथा पौराणिकों व ऐतिहासिकों के अनुसार त्वष्टा का पुत्र मेघ है, इसका इन्द्र से विरोध था।

वृत्रो वृणोति वा। वर्तते वा वर्धते वा। 'वृत्र' शब्द आच्छनात्मक 'वृत्र' धातु से निष्पन्ना है क्योंकि वृत्र – मेघ आकाश को आच्छादित किये रहता है अथवा वर्तमानार्थक 'वृत्' धातु से बनता है क्योंकि वर्तमान रहता है। अथवा वृद्ध्यर्थक वृध् धातु से निष्पन्ना है क्योंकि बरसात

में बहुत बढ़ता है। अतः यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् इति विज्ञायते। यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् इति विज्ञायते। 'यदवर्द्धत' तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् इति विज्ञायते।

10.4.30 रात्रिः –

निघण्टु में रात्रि के 23 पर्यायवाची शब्द दिये गये है। यास्क ने रात्रि के तीन अर्थ निर्वचन तथा दो शब्द निर्वचन दिये है। रात्रि शब्द की व्युत्पत्ति रम् धातु से मानते हुए उसका अर्थ यास्क ने इस प्रकार किया है–

1. 'प्ररमयति भ्तानि नक्तञचारीणि, उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति' रात्रि अन्य (निशाचर से भिन्न) प्राणियों को स्वप्नावस्था में स्थिर कर देती है, निशाचर प्राणियों को आनन्दित करती है। इन दोनों ही अर्थों मे रम् + इ + त्रिप् > रात्रि शब्द निष्पन्ना होगा।

2. रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः – दूसरा निर्वचन ✓'रा' धातु से माना है जिसका अर्थ है देना। रात्रि में अवश्याय (ओस की बूंद) प्रकृति की ओर से पृथिवी को दिए जाते हैं। "प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः।" इस अर्थ में ✓रा + त्रि > रात्रि शब्द निष्पन्ना होगा।

10.4.31उषस् –

निघण्टु में 'उषस्' के 16 पर्याय दिये गये हैं। उषस् रात्रि के पिछले समय को कहते हैं। रात्रि के घने अन्धकार को हटा देता है अतः वह उषस् कहलाती है। अन्धकार मुच्छतीत्युषाः इस व्युत्पत्ति के आधार पर उषस् शब्द का निर्वचन ✓उच्छ् अस् > उसस > उषस् है। यास्क कहते हैं कि उषाः कस्मात् झ उच्छतीति सत्याः। रात्रेरपकालः। तस्या एसा भवति।

10.4.32मेघः –

''मेहतीति सतः'' मेघ शब्द का निर्वचन मिह् धातु से किया गया है क्योंकि वह वर्षा से संचन करता है इसलिए मेघ कहलाता है। उपर व उपल दोनों नाम मेघ के है जो पर्वत नामों के साथ सामान्य है। उपर व उपल मेघों में जल आकर ठहरते हैं।

10.4.33नदी –

निघण्टु में नदी के 37 पर्याय दिये गये हैं। 'नदनाः भवन्ति शब्दवत्यः' नदी शब्द शब्दकरणार्थक 'नद्' धातु से बना है। नदियाँ शब्द करने वाली होती हैं तथा जोर स आवाज करती है। इस प्रकार नद् + अ (घञा्) ई (ङीप्) प्रत्यय से नदी शब्द निष्पन्ना हुआ है।

10.4.34अश्वः –

(I) अश्व के 26 नाम निघण्टु में गिनाये गये हैं। अश्व शब्द का निर्वचन करते हुए। यास्क कहते हैं कि जो तेजी से चलने के कारण मार्ग को व्याप्त करता है उसे अश्व कहते हैं। अश्नुतेऽध्वानम्। अशुङ् (व्याप्त्यार्थक) + अध्वन् > अश् + वन् > अश्व या अशुङ् व (क्वन् उणादि) अश्व इस प्रकार अश्व का निर्वचन किया गया है।

(ii) ''महाशनोभवतीति वा'' वह खूब खाता है अतः इस व्याख्या के अनुसार ✓अश् (भक्षणार्थक) + व (क्वन्) अश्व होगा।

10.4.35पाणि –

यास्क ने इसका निर्वचन पूजार्थक पण् धातु से माना है। सम्भवतः ✓पण इ > पणि > पाणि। यास्क ने इस सम्बंध में जो प्रग्रह्य पाणी देवान् पूजयन्ति अर्थात् हाथों को जोड़कर लोग पूजा करते हैं।

10.4.36अहर् –

निघण्टु में अहर् के 12 पर्याय गिनाये गये हैं। अहर् का निर्वचन यास्क ने इस प्रकार किया है– अहः कस्यात् ! अहर् (दिन को) क्यों कहा जाता है? उत्तर में यास्क कहते हैं कि

'उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि।' आ + हृ + आहर् > अहर् शब्द से अभिप्राय है कि लोग इसमें काम करते हैं।

यास्क की दृष्टि में 'अहर्' शब्द रकारान्त है जबकि पाणिनि ने इसे नकारान्त माना है। उन्होंने उसके रकारान्त रूपों की सिद्धि 'न्' को 'र्' आदेश मानकर की है अहन् (8/2/68)। आधुनिक विद्वान् 'अहन्' व 'अहर्' के रूप में दो प्रकृति मानते हैं।

10.4.37स्थाणु : –

स्थाणुस्तिष्ठते। अर्थोऽर्तेः, अरणस्थः वा। स्थाणु शब्द स्था धातु से निष्पन्ना होता है। अर्थ शब्द ✓ऋ धातु से बना है अथवा अरण गमन हो जाने पर भो रहने वाला है। ✓स्था + ण (उणादि 3/37) इसी में अर्थ शब्द की निरुक्ति दो प्रकार से हुई है–

1. अर्यते वाम्यते इति अर्थः, अर्थात् जिसे शब्द के द्वारा प्राप्त किया जाये उसे अर्थ कहते हैं। इसके अनुसार ✓ऋ (गत्यर्थक) + स्थन् (थः उणादि प्रत्यय) = अर्थ।
2. अरणे गमने तिष्ठतीति अर्थः – जो शब्द के चले जाने पर भो विद्यमान रहता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार (ऋ + ल्युट्) अरण शब्द बना। + स्था – क > अर् + था = क कर + थ् + अ) अर्थ। अर्थ का बोध शब्द के द्वारा होता है तथा उसकी सत्ता शब्द के अभाव में भो रहती है।

10.4.38मृगः –

मृगः शब्द का अर्थ सिंह है। मृगः माष्टगतिकर्मणः। मृगः शब्द गति अर्थ वाली ✓मृज् धातु से निष्पन्ना है। मृज् + क प्रत्यय से निष्पन्ना 'मृगः' शब्द का अर्थ है जो तेजी से दौड़ता है।

10.4.39रश्मि –

निघण्टु में 15 नाम रश्मि के हैं। 'रश्मिर्यमनात्' रश्मि शब्द 'यमन' अर्थात् बन्धन के कारण निष्पन्ना होता है। ✓यम् = इ > रश् म् + इ ('य' के स्थान पर 'रंश') आदेश रश्मि शब्द निष्पन्ना हुआ। इस प्रकार रश्मि बन्धनार्थक ✓रश् धातु से बना है। यह धातु पाणिनीय गणपाठ में नहीं है परन्तु 'रशना' आदि शब्दों का होना इसके अस्तित्व की ओर संकेत करता है।

10.4.40दिशा –

दिशतेः आसदनात्, अपि वाऽभ्यशतात्। ✓दिश् धातु के समीप में विद्यमान होने से या व्यापक होने से दिशा शब्द बना है। निघण्टु में 'काष्ठा' शब्द दिशा वाचक है क्योंकि, प्रत्येक पदार्थ के पास पहुँचकर स्थित है। 'काष्ठा' उपदिशाओं को भो कहते हैं क्योंकि यह एक दूसरे का अतिक्रमण करके स्थित है। आदित्य व युद्ध के मैदान को भो 'काष्ठा' कहते हैं। जल भो काष्ठा कहलाता है।

यास्क ने दिश् के तीन निर्वचन किये हैं–

(1) ✓दिश् धातु से दिश्यते इति दिश् जिसकी ओर अंगुली आदि के द्वारा निर्देश दिया जा सके।

(2) दिश् + क्विप > दिश् सिंह है।

✓सद् + क्विप् > दस् + > दिश् शब्द निष्पन्ना है।

(3) अभ्यशनात् व्यापक होने के कारण दिशा कहते हैं। 'आशु' व्यापकार्थक धातु से दिशा शब्द निष्पन्ना है।

10.4.41कम्बोजा –

कम्बोजाः कम्बलभोजाः। कमनीय भोजाः वा। कम्बलः कमनीयो भवति।

(क) कम्बल भोज > कम्बोज (ब के अ 'ल' और भ का लोप)

(ख) कमनीय भोज > कम् + भोज (अ और नीय का लोप) >

कम्बोज ('म' का परिवर्तन 'ब' में)

'कमनीय भवति' में कम्बल को 'कम्' धातु से जोड़ना चाहा। सर्दी में कम्बल लोगों के लिए कामना का विषय होता है। काबुल क कम्बलों का विशेष उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है अतः इस दृष्टि से यास्क का यह निर्वचन अपना महत्त्व रखता है।

10.5 पारिभाषिक शब्दावली

निरुक्त – अर्थावबोधे निरपेक्षया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरूक्तम्"निरुक्त निर्वचन प्रधान शास्त्र है, जिसमें आचार्य यास्क ने बहुत से वैदिक मंत्रों की व्याख्या एक नयी शैली में की है। आचार्य सायण के अनुसार अर्थ ज्ञान के लिए स्वतन्त्र रुप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है, वहीं 'निरुक्त' है।

निघण्टु – वैदिक शब्द कोष को निघण्टु कहते हैं।

पंचविध निरुक्त – निरुक्त की पांच विधियाँ – १. वर्णागम २. वर्णविपर्यय ३. वर्णविकार ४. वर्णविनाश ५. धातु का उसके अर्थ से संयोग ।

आचार्यः – आचार्यः आचारं ग्राह्यति अर्थात्। आचार्य वह है जो विद्यार्थी को सदाचार की शिक्षा देता है। शिक्षा ही नहीं देता वरन् उसे सदाचार भो धारण करवाता है। इसमें आ उपसर्ग चर् धातु तथा ण्यत् जैसा कोई प्रत्यय रहा होगा।

आदित्य – वह रसों का आदान करता है, इसलिए आदित्य है। ''आदत्ते रसान्'' आ + दा + य > आ + दा + त्य (त् का आगम) > आदित्य शब्द निष्पन्ना है।

ब्रह्मा – ह्मैको जाते–जाते विद्यां वदति।
ब्रह्मा सर्वविद्यः। सर्वं वेदितुम् अर्हति।।ब्रह्मा अवसर–अवसर पर अपने ज्ञान को प्रकट करता है। ब्रह्मा सब विद्याओं का ज्ञाता होता है तथा सब कुछ ज्ञान कराता है।

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. निम्न में से जो सही हो उनके आगे (✓) का तथा जो गलत हो उनके आगे (x) का चिन्ह लगाइए। चिह्न लगाये –

क. अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रूप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है, वही निरुक्त ळें ( )

ख. स्वामी दयानन्द निरुक्त व निघण्टु के रचयिता भिन्न–भिन्न मानते हैं। ( )

ग. आचार्य बलदेव उपाध्याय निघण्टु का रचयिता देवराज यज्वा को मानते हैं। ( )

घ. निरुक्त के प्रथम अध्याय में शब्दों का निर्वचन है। ( )

च. शब्द में स्वर व बनावट के आधार को व्याकरण शास्त्र भो मानता है। ( )

छ. पाणिनी के व्याकरण सिद्धान्त यास्क की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। ( )

2. यास्क की निर्वचन पद्धति का उल्लेख कीजिये।

अथवा

निरुक्त के उद्देश्यों पर विस्तृत लेख लिखें।

3. व्याख्या कीजिये–

निघण्टवः कस्मात् ? निगमा इमे भवन्ति। छन्दोम्यः समाहृत्य समाम्नातः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः। अपिवा आ हननाद् एव स्युः। समाहता भवन्ति। यद्वा समाहृता भवन्ति।

अथवा

आचार्यः कस्मात्? आचार्य ग्राह्यति। आचिनोति अर्थान्। आचिनोति बुद्धिम् इति वा।

4. व्याख्या कीजिये –

गौरिति पृथिव्या नामधेयम् – यद् दूरंगता भवति,
यच्चास्यां भ्तानि गच्छन्ति। गतिर्वोकारो नामकरणः।

अथवा

हिरण्यं कस्मात्। ह्रियते आयम्यमानमिति वा। ह्रियते जनाज्जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्सा कर्मणः।

5. निम्नलिखित में से पाँच शब्दों का निर्वचन कीजिये –

(i) आदित्यः।

(ii) पर्वतः।

(iii) समुद्रः।

(iv) कम्बोजा।

(v) नरकम्।

(vi) कर्णः।

(vii) हस्तः।

(viii) शाखा।

(ix) अश्वः।

(x) कुलमाषाः।

1. क) 3 ख) 7 ग) 3 घ) 3 च) 3 छ) 3

2. देखिए इकाई 10.3

अथवा

देखिए इकाई 10.2

3. देखिए इकाई 10.4

अथवा

देखिए इकाई 10.4.2

4. देखिए इकाई 10.4.20

अथवा

देखिए इकाई 10.4.23

5. (i) इकाई 10.4.27 (ii) इकाई 10.4.19
(iii) इकाई 10.4.25 (iv) इकाई 10.4.40
(v) इकाई 10.4.17 (vi) इकाई 10.4.15

(vii) इकाई 10.4.9 (viii) इकाई 10.4.4

(ix) इकाई 10.4.33 (x) इकाई 10.4.3

10.7 सारांश

इस प्रकार निर्वचन के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि देश व काल की दृष्टि से नाम व आख्यान के प्रयोग भिन्ना–भिन्ना है। कुछ शब्द वैदिक संस्कृत में प्राप्त होते हैं परन्तु लौकिक संस्कृत मे नहीं मिलते। कुछ धातुयें वैदिक संस्कृत में अप्रयुक्त है परन्तु लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार एकप्रदेश की धातुयें दूसरे प्रदेश में भिन्ना अर्थो में प्राप्त होती है। इसे यास्क ने 'एकपर्व' माना है तथा एक बार के प्रयोग से धातु पर पहुँच जाते हैं। तद्धित व समास शब्दों में 'अनेकपर्व' है, इनका सीधा निर्वचन सम्भव नहीं। यथा दण्डय पुरूष (तद्धित्त) दण्ड के योग्य दण्ड ✓दद् = धारण करना से बना।

औपमन्यव के मत् में ✓दम् = दबाना से बना अतः

निर्वचन प्रक्रिया हुई दण्डय > दण्ड > दद् या दम्।

समाज – राजपुरूष। इसका विग्रह राजा का पुरूष।

राजा ✓राज् = शोभन से बना है।

शब्दों के निर्वचन करने में यास्क ने पूरी–पूरी ऋचायें प्रस्तुत की है। शब्दों के जितने भो अर्थ निकल सकते हैं, यास्क ने व्युत्पत्ति के द्वारा उन तक पहुँचने की कोशिश की है। इस प्रकार यास्क ने शब्द के प्रत्येक पहलू पर विचार किया है। यास्क की निर्वचन करने की अपनी एक विशेष शैली है। वह 'निघण्टवः कस्मात्' कहकर स्वंय यह प्रश्न उठाते हैं कि शब्द का निर्माण कैसे हुआ है? तथा उस पर हर दृष्टि से विचार कर उसके अर्थ की पूर्ण तह तक पहुंचने की कोशिश करते हैं। पुराणों में ऐतिहासिक दृष्टि से जो आख्यान प्रसिद्ध है उनका भो वर्णन किया है। शाकपूणि का आख्यान, वृत्र का आख्यान, विश्वामित्र व नदी–संवाद का आख्यान आदि सबका वर्णन कर अर्थ तक पहुँचने का सार्थक प्रयास किया है। भाषा के प्रचलित प्रयोगों व उसमें आये परिवर्तनों को दृष्टि में रखकर यदि हम निरुक्त का अध्ययन करें तो भाषा वैज्ञानिक निष्कर्षों तक पहुंचने में निरुक्त की महती भ्मिका हो सकती है।

10.8 संदभ ग्रंथ सूची

1. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी,1955.
2. निरुक्तम् (खण्ड 1) – डॉ. उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2006.
3. हिन्दी निरुक्त – डॉ. कपिलदेव शास्त्री एवं चुन्नी लाल शुक्ल साहित्य भडार, मेरठ, 1967.
4. यास्कप्रणीतम निरुक्तम् –डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, जयपुर,1999.